National Journal of
Hindi & Sanskrit Research

ISSN: 2454-9177
NJHSR 2023; 1(47): 211-215
© 2023 NJHSR
www.sanskritarticle.com

डॉ. सुरेश्वर मेहेर
सहायक आचार्य व मुख्य,
संस्कृत विभाग,राजधानी महाविद्यालय,
भुवनेश्वर- 751003 (ओड़िशा)

Correspondence:
डॉ. सुरेश्वर मेहेर
सहायक आचार्य व मुख्य,
संस्कृत विभाग,राजधानी महाविद्यालय,
भुवनेश्वर- 751003 (ओड़िशा)

जैन दर्शन में सृष्टि-तत्त्व विमर्श : विश्लेषण तथा मूल्यांकन

डॉ. सुरेश्वर मेहेर

कूट शब्द : सृष्टि, जैन, तत्त्व, जगत्, द्रव्य ।

उपक्रम :

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आचारपक्षधर्मी दर्शन के रूप में जैन दर्शन की जितनी महत्ता है, शायद ही अन्य किसी दर्शन इसके समकक्ष हों। जैन दर्शन ने अपने उदारवादी विचारधारा के कारण अपनी प्रतिष्ठा को दर्शन जगत् में स्थापित किया हुआ है। प्रामाणिकता की दृष्टि से महावीर तथा पार्श्वनाथ से जैन धर्म-दर्शन का प्रवर्तन प्रायः स्वीकार किया जाता है । इस जैन दर्शन के प्रसिद्ध विद्वानों में कुन्दकुन्दाचार्य ने *नियमसार, पञ्चास्तिकायसार, समयसार* एवं *प्रवचनसार* की विरचना की जो जैनागमों के प्रमुख ग्रन्थ हैं । आचार्य उमास्वामी ने *तत्त्वार्थसूत्र* अथवा *तत्त्वार्थाधिगमसूत्र* ग्रन्थ का प्रणयन किया जो जैन दर्शन का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हैं । इसके व्यतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकरकृत *न्यायावतार*, हरिभद्र सूरिकृत *षड्दर्शनसमुच्चय*, मल्लिषेण सूरि रचित *स्याद्वादमञ्जरी* जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जिनमें जैन दर्शन के विभिन्न दार्शनिक पक्षों के ऊपर गंभीर विचार प्रस्तुत किये गये हैं । प्रस्तुत शोध लेख में जैन दर्शन के सृष्टि-तत्त्व सम्बन्धित चिन्तन पर विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है ।

जगत् के तत्त्व-विवेचन :

जैन दार्शनिकों ने इस जगत् के मूल में अनेक तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार किया है । इसलिए यह दर्शन बहुतत्त्ववाद अथवा बहु-कारणतावाद के समर्थक के रूप में प्रसिद्ध है । जैन दर्शन में विश्व के प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक स्वरूपों का विश्लेषण करते हुए सात प्रकार के मूल तत्त्वों का अन्वेषण किया गया है, जिनके माध्यम से जगत् की समस्त वस्तुओं का आविर्भाव होता है । वे सप्त तत्त्व या पदार्थ हैं- (1) *जीव,* (2) *अजीव,* (3) *आस्रव,* (4) *बन्ध,* (5) *संवर,* (6) *निर्जरा* तथा (7) *मोक्ष* ।[1]

तत्त्व को परिभाषित करते हुए जैन दर्शन में कहा गया है कि जिसमें अनेक धर्म या गुण हों, वही पदार्थ है ।[2] इसी अनेक गुण-धर्मयुक्त तत्त्व के आधार पर जैन दर्शन 'अनेकान्तवाद' सिद्धान्त की प्रस्थापना करता है । तत्त्व एक गतिशील यथार्थ है, एक ऐसी सत्ता है जो सर्वदा परिवर्तित होती रहती है ।

द्रव्य विमर्श :

जैन दर्शन के मत में 'द्रव्य' वस्तुओं के अन्तः में विद्यमान सारतत्त्व है । यही द्रव्य अपने को भिन्न-भिन्न आकृतियों में प्रकट करता है, जिसकी तीन विशेषतायें हैं- उत्पत्ति, स्थिति और विनष्टि।[3] जैन दर्शन के अनुसार जिस तत्त्व के गुण और पर्याय एक साथ होते हैं, वह द्रव्य होता है ।[4] गुण द्रव्य का स्वरूप है एवं

पर्याय द्रव्य का आगन्तुक धर्म। स्वरूप धर्म नित्य होता है, किन्तु आगन्तुक धर्म अनित्य । पुनश्च जैन मत में द्रव्य दो भागों में विभक्त है - (1) अस्तिकाय (2) अनस्तिकाय। विस्तार धारण करने वाले द्रव्य को 'अस्तिकाय' कहे जाते हैं । सत्ता धारण करने के कारण वे 'अस्ति' तथा शरीर की भाँति विस्तार से समन्वित होने से वे 'काय' कहलाते हैं।[5] अस्तिकाय में पाँच द्रव्यों की सत्ता स्वीकृत की गई है- जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय । काल ही एकमात्र अनस्तिकाय द्रव्य है क्योंकि यह एकप्रदेशव्यापी के रूप में स्वीकृत है ।

देशव्यापी अस्तिकाय द्रव्यों के दो प्रधान भेद हैं - जीव और अजीव । जीव आत्मा का वाचक है । जीव पुनः दो प्रकार के होते हैं - बद्ध जीव और मुक्त जीव । इनमें बद्ध जीव के अनेक भेद स्वीकात किये गये हैं । वे जीव जो उद्देश्यपूर्वक किसी स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की शक्ति रखते हैं 'त्रस' कहलाते हैं और जो जीव ऐसी शक्ति से विहीन रहते हैं उन्हें 'स्थावर' कहा जाता है । संसारी जीव के अन्य चार प्रकारों का वर्णन तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में प्राप्त होता है जो निम्न प्रकार से हैं-[6]

(i) नारक - विविध नरकों में निवास करने वाले जीव

(ii) मनुष्य

(iii) तिर्यञ्च - पशुपक्षी आदि लघुकाय जीव

(iv) देव - ऊर्ध्वलोक में निवास करने वाले जीव ।

स्थावर जीव सबसे निकृष्ट माने जाते हैं क्योंकि उनमें केवल स्पर्शेन्द्रिय की सत्ता रहती है। स्थावर जीव का शरीर अपूर्ण होता है एवं वे क्षिति, जल, वायु, अग्नि या वनस्पति रूप शरीरों में रहते हैं।[7] जंगम जीवों में कुछ दो इन्द्रियसंपन्न, कुछ तीन इन्द्रिय से युक्त और कुछ चतुरिन्द्रिय से युक्त होते हैं; परन्तु मनुष्य, पशु-पक्षी आदि उन्नत जीवों में पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं । ये जीव का सामान्य निरूपण है । अस्तिकाय अजीव द्रव्य चार प्रकार के होते हैं - पुद्गल, आकाश, धर्म तथा अधर्म ।

जीव :

चेतन द्रव्य को 'जीव' या 'आत्मा' कहते हैं।[8] संसार के समस्त जीवों में प्रत्येक क्षण चैतन्य विद्यमान रहता है । किन्तु भिन्न-भिन्न जीवों में इसका स्वरूप तथा इसकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। मात्रा-भेद के अनुसार जीवों में एक तारतम्य है जिसमें सिद्ध आत्माओं का स्थान सर्वोच्च है । प्रत्येक जीव नैसर्गिक रूप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों से संपन्न होता है, परन्तु जीवों में आवरणीय कर्मों के कारण इन स्वाभाविक गुणों का उदय नहीं हो पाता । अपने ही शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से इन आवरण के तिरोधान होने से इन गुणों का साक्षात्कार हो जाता है । दर्शन, ज्ञानादि गुणों के विपुल तारतम्य के कारण जीवों के अनन्त भेद हैं । जीव ही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है तथा सुख-दुःखात्मक कर्मफलों का भोक्ता भी वह स्वयं है । जीव स्वयं प्रकाशशील है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है । जैन दर्शन के अनुसार जीव नित्य है, किन्तु साथ-साथ परिणामशील भी है । यह शरीर से पूर्णतया भिन्न है एवं उसकी सत्ता का प्रबल प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। जैन दर्शन जीव को मध्यम-परिमाणविशिष्ट स्वीकार करता है। अर्थात् जीव जब शरीरावच्छिन्न होता है तो वह अपने निवासभूत शरीर के परिमाण को धारण करता है । हस्ती जैसे विशालकाय प्राणी में रहने वाला जीव विपुल परिमाणविशिष्ट होता है, किन्तु चींटी जैसे अल्पकाय में रहने वाला जीव परिमाण में नितान्त स्वल्प होता है । प्रदीप की तरह जीव भी संकोच एवं विकासशील होता है।[9]

अजीव :

जैन दर्शन के अनुसार अजीव तत्त्व वे हैं जिनमें चेतना नहीं होती। अजीव तत्त्व के पाँच भेद हैं - पुद्गल, आकाश, काल, धर्म व अधर्म।

जैन दर्शन में **'पुद्गल'** शब्द का अर्थ भूतसामान्य के लिए व्यवहृत किया गया है । सर्वदर्शन-संग्रह के अनुसार पुद्गल शब्द की निरुक्ति है - *पूरयन्ति गलन्ति चेति पुद्गलः* । अर्थात् पुद्गल उन द्रव्यों की संज्ञा है जो प्रचय रूप से शरीर का निष्पादन करने वाले होते हैं तथा प्रचय के विनाश होने पर जो छिन्न-भिन्न हो जाते हैं । पुद्गल के दो रूप उपलब्ध होते हैं - अणु तथा संघात । पुद्गल के सूक्ष्मतम निरवयव अंश जिनका और सूक्ष्म विभाजन नहीं किया जा सकता 'अणु' कहलाते हैं । दो या दो से अधिक इन सूक्ष्म अंशों के परस्पर एकत्र होने से 'संघात' या 'स्कन्ध' बनता है । इन्हीं संघातों के द्वारा ही शरीर तथा उसके भिन्न-भिन्न अंग, मन, प्राण आदि की सृष्टि होती है। अणु-संघातरूप पौद्गलिक भौतिक पदार्थों में चार गुण प्राप्त होते हैं - स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण । जैन दर्शन 'शब्द 'को भूत का गुणविशेष के रूप में स्वीकार नहीं करता, बल्कि सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, अन्धकार, छाया आदि के समान होने वाला अवान्तर परिणाम मानता है ।[10]

'आकाश' जीवादि अस्तिकाय द्रव्यों को अवकाश देने वाला पदार्थ है। यह नित्य तथा सर्वव्यापी है । आकाश एक निष्क्रिय द्रव्य है तथा रूप-रस-शब्द-स्पर्श-गन्ध से रहित होने के कारण अमूर्त्तिक द्रव्य भी है । आकाश के दो भेद हैं - (i) लोकाकाश - जिसमें जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों की स्थिति रहती है, (ii) अलोकाकाश- जो लोक से ऊर्ध्ववर्ती व्याप्त आकाश है । आकाश की सत्ता प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर अवलम्बित न होकर अनुमान के आधार पर अङ्गीकृत की जाती है।

जगत् के समस्त पदार्थ परिणामशील हैं । इस परिणाम के साधारण कारण के रूप में **'काल'** की सत्ता स्वीकृत है । वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व - ये पाँचों काल के 'उपकार' हैं । काल के बिना पदार्थों की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती है । किसी वस्तु का परिणाम काल की सत्ता पर अवलम्बित है। जैन दर्शन के अनुसार काल का विस्तार नहीं हो सकता, अतः यह अस्तिकाय द्रव्यों से भिन्न है । लोकाकाश में काल अणुरूप से पृथक्-पृथक् स्थित रहता है, जिस प्रकार रत्नों की राशि में प्रत्येक रत्न पृथक् विद्यमान रहता है।[11] द्रव्यसंग्रह (गाथा-22) में काल के दो भेद किये गये हैं- व्यावहारिक काल तथा पारमार्थिक काल। व्यावहारिक काल सावयव, सादि तथा सान्त होता है, किन्तु पारमार्थिक काल एक अनवच्छिन्न रूप से सतत विद्यमान रहता है ।

जैन दर्शन में गतिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण द्रव्यविशेष को 'धर्म' की संज्ञा दी गई है । जिस प्रकार जल में चलने वाली मछली के लिए जल सहकारी कारण है, उसी प्रकार जीव तथा पुद्गलों की गति के लिए धर्मास्तिकाय द्रव्य स्वीकृत है । धर्म स्वयं जीव की गति की प्रेरणा में असमर्थ है, किन्तु उसकी गति के लिए सहायतामात्र करता है। स्थितिशील जीव तथा पुद्गल की स्थिति के सहकारी कारण द्रव्यविशेष को 'अधर्म' की संज्ञा जैन दर्शन में दी गई है। जिस प्रकार श्रान्त पथिक के विश्राम के लिए वृक्ष की छाया सहायक होती है, उसी प्रकार जीव की स्थिति के लिए अधर्मास्तिकाय द्रव्य स्वीकृत है । यह अधर्म केवलमात्र स्थिति के लिए सामान्य रूपेण सहायक बनती है ।

आस्रव :

जैन दर्शन के सप्त तत्त्वों में 'आस्रव' तृतीय तत्त्व है । आस्रव ही जीव के बन्धन का कारण है ।[12] आस्रव के संपर्क के कारण जीव का वास्तविक स्वरूप आवृत हो जाता है एवं बद्धावस्था को प्राप्त होता है। जीव और पुद्गल अनादि काल से लोकाकाश में वर्तमान हैं, जीवों के साथ उनके कर्म भी हैं तथा साथ ही साथ जीव अनादिस्वरूप अविद्या के कारण क्रोध, मान, माया तथा लोभ चार कषायों से युक्त है । अतः जीव द्वारा कृत कर्म का फल संस्कार रूप से पुद्गलों के साथ विद्यमान रहता है। इसी कर्म-पुद्गलों का मानसिक, वाचिक एवं कायिक रूप 'योग'[13] से जीव में प्रवेश को ही 'आस्रव' संज्ञा प्रदान की गई है । आस्रव के दो भेद हैं - भावास्रव व द्रव्यास्रव । 'भावास्रव' की स्थिति वह परिवर्तन है, जो कर्मपुद्गलों के जीव में प्रवेश होने से पूर्व, जीव के भावों में उत्पन्न होता है । इसके अनन्तर जीव में कर्मपुद्गलों के प्रवेश को 'द्रव्यास्रव' कहा जाता है ।

बन्ध :

जीव के बन्धन का कारण कर्म है । जीव में कर्म-पुद्गलों के प्रवेश के पूर्व जो 'भावास्रव' उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप जीव में 'भावबन्ध' का भाव उत्पन्न होता है । इसके पश्चात् उपर्युक्त प्रक्रिया से कर्म-पुद्गलों के जीव में प्रवेश करने पर 'द्रव्यास्रव' की उत्पत्ति के फलस्वरूप जीव में जो बन्धन का भाव उत्पन्न होता है, उसे 'द्रव्यबन्ध' कहते हैं । इस प्रकार आस्रव ही बन्धन का कारण है, क्योंकि इसके द्वारा जीव का वास्तविक चैतन्य एवं ज्ञानस्वरूप तिरोहित हो जाता है । इसके व्यतिरिक्त अविरति, मिथ्यात्व, कषाय एवं प्रमाद भी बन्धन के कारण हैं ।[14]

संवर :

मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव में कार्मिक पुद्गलों के प्रवेश को अवरोध करना अत्यावश्यक है । पूर्वकृत कर्मों को निःशेष करके भावी कर्मों के मार्ग को अवरुद्ध करना 'संवर' कहलाता है ।[i] अतः संवर मोक्ष का हेतु है । संवर के भी दो भेद हैं - भावसंवर तथा द्रव्यसंवर । संवर के द्वारा जब जीव के राग, द्वेष एवं मोह विकारों का निरोध होता है, उसे 'भावसंवर' कहते हैं । इसके अनन्तर, जब कर्म-पुद्गलों के जीव में प्रवेश निरोध हो जाता है तो उसे 'द्रव्यसंवर' कहा जाता है ।

निर्जरा :

जीव में स्थित अतीत के कर्म-पुद्गलों का विनाश जिस क्रिया द्वारा संपन्न होता है, उसे 'निर्जरा' कहा जाता है।[15] निर्जरा प्राप्ति के लिए कठोर तपश्चर्या की अपेक्षा है । इस तपस्या में निदिध्यासन परमापेक्षित है । निर्जरा प्राप्ति के लिए राग-द्वेष आदि का विनाश अत्यावश्यक है । यही आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया है । निर्जरा के द्विविध रूप हैं - भावनिर्जरा एवं द्रव्यनिर्जरा । भावावस्था में कर्मों के नाश को 'भावनिर्जरा' तथा जीव में प्रविष्ट कर्मपुद्गलों के विनाश को 'द्रव्यनिर्जरा' कहा जाता है ।

मोक्ष :

संवर तथा निर्जरा के माध्यम से जब आस्रव का पूर्णतया विनाश हो जाता है अर्थात् कर्म-पुद्गलों का लेशमात्र भी जीव में अवस्थान नहीं रहता, तब उसको 'मोक्ष' कहा जाता है ।[17] मुक्तावस्था में जीव कर्म-पुद्गलों से मुक्त होने के कारण सर्वज्ञ व सर्वद्रष्टा होकर मुक्ति का अनुभव करता है। यह अवस्था जीव की 'भावमुक्ति' अथवा 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था है। इस अवस्था में जीव के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय- इन चार घातक कर्मों का नाश हो जाता है । जैन दर्शन के अनुसार उक्त अवस्था वास्तविक

मोक्ष से पूर्व की अवस्था है। इसके पश्चात् जब आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय- इन चार अघातीय कर्मों का भी उच्छेद हो जाता है, जिससे जीव को 'द्रव्यमोक्ष' की प्राप्ति होती है । यही जैन दर्शनानुसार 'विदेहमुक्ति' की स्थिति है। इस दशा में जीव औपशमिक, क्षयोपशमिक, औदयिक एवं भवत्व - इन चार भावों से भी मुक्त हो जाता है। मुक्त जीव 'अलोकाकाश' के अन्तर्गत 'सिद्ध शिला' में अनन्त काल तक निवास करता है । वह धर्मास्तिकाय के न रहने के कारण ऊर्ध्वलोक के बहिर्भूत नहीं जा सकता ।[18]

सृष्टि-विमर्श :

जैनदर्शन के अनुसार चैतन्य जीव और अचैतन्य अजीव तत्त्व का समन्वय ही जगत् या सृष्टि है । जैन दर्शन जगत्सृष्टि के कारण रूप में किसी ईश्वर रूपी सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार सृष्टि, विभिन्न प्रकार के द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न हुई है। मुख्य रूप से पुद्गल भौतिक जगत् के निर्माण का आधारस्रोत है। जगत् के समस्त भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति अणुओं के परस्पर सहयोग से होती है क्योंकि अणुओं में परस्पर आकर्षण करने की शक्ति होती है । पुनश्च इस दर्शन के मतानुसार पदार्थों में नियतिवाद है एवं संसार की विविधता का हेतु जीव और पुद्गल का संयोग है। इस विविधरूपता को ही सृष्टि कहा जाता है ।[19]

जैन दर्शन जड़ व चेतन के संयोग को अनादि स्वीकार करता है । पुद्गल और आत्मा दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं क्योंकि सृष्टि के लिए जीव को पुदल की तथा पुद्गल को जीव की आवश्यकता रहती है । दोनों में से कोई भी एक तत्त्व संपूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत् उत्पत्ति नहीं कर सकता । अज्ञान से उत्पन्न वासना, वासना से उत्पन्न कर्म के कारण चेतन जीव व जड़ अजीव परस्पर संयुक्त होते हैं जिसके फलस्वरूप दृश्य जगत् का अभ्युदय तथा विकास होता है। किन्तु, वास्तवतः जगत् का विकास नहीं हो सकता, वह परिपूर्ण है क्योंकि द्रव्य कम या अधिक नहीं हो सकते हैं ।

जैन दर्शन के अनुसार सत् द्रव्य का नाश नहीं होता और न ही असत् द्रव्य से सृष्टि हो सकती है। उत्पत्ति और विनष्टि तो पदार्थों के गुणों और प्रकारों के कारण ही होती है।[20] अन्य शब्दों में, पदार्थों या द्रव्यों के परिवर्तन का नाम ही सृष्टि है। अतः अनादि चैतन्य द्रव्य जीव तथा अचैतन्य द्रव्य पुद्गल में होने वाला परिवर्तन ही सृष्टि का मूल कारण है । वास्तवतः जगत् स्वाभाविक है, सृष्टि कृत्रिम है । जगत् या लोक की शाश्वतता द्रव्य पर आधारित है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इस विश्व के उद्भव-विकास के केवल निमित्तभूत हैं । जैन दार्शनिकों के एक दृष्टिकोण में संसार नित्य है क्योंकि द्रव्यों के गुण परिवर्तनशील नहीं होते, तो दूसरे दृष्टिकोण में यह जगत् या सृष्टि परिवर्तनशील भी क्योंकि द्रव्यों के पर्याय सर्वदा परिवर्तित होते रहते हैं ।

जैन दर्शनानुसार मनुष्य का विकास वनस्पति से होता है जो संपूर्ण जीवों के विकास का आधारभूत है । काल लब्धि का परिपाक होने पर जीव अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में पहुँचता है जिससे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, समनस्क, अमनस्क आदि प्राणियों का उद्भव होता है । इस दर्शन के मतानुसार विकास का कारण कोई एक तत्त्व नहीं है परन्तु अनेक कारणों से समवाय से कार्य घटित होता है । काल, स्वभाव आदि समस्त कारण सम्मिलित होकर ही विकास को घटित करते हैं । इसी प्रकार एक अनेकधर्मवादी तथ्य को जैन दर्शन प्रकट कर अपने दार्शनिक सिद्धान्त को व्यक्त करता है ।

मूल्यांकन :

बहुतत्त्ववादी जैन दर्शन चैतन्य जीव और अचैतन्य अजीव तत्त्व के संयोग से जगत् या सृष्टि के आविर्भाव को मानता है, किन्तु ईश्वर रूपी किसी मूलकारण को यह दर्शन स्वीकार नहीं करता । जैनदर्शनानुसार जगत् के समस्त भौतिक पदार्थों का निर्माण पुद्गल-अणुओं के परस्पर सहयोग से होती है क्योंकि अणुओं में परस्पर आकर्षण करने की शक्ति होती है । पदार्थों में नियतिवाद को स्वीकार कर यह दर्शन विविधतापूर्ण संसार के लिए जीव और पुद्गल का संयोग को ही मानता है । आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में यह बात समीचीन प्रतीत होती है । किन्तु मूलतः समग्र संसार द्रव्य-ऊर्जा से ही विनिर्मित है । जैन दर्शन केवल पुद्गल अणुओं तक ही बात करता है जो वर्तमान समय में उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है । किन्तु इस दर्शन ने जो अणुओं के बीच आकर्षण शक्ति के बारे में कहा है उसको आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है । अतः जैन दर्शन इस विषयक मत में प्रशंसनीय है ।

पुनश्च जैन दर्शन जड़ पुद्गल एवं चेतन आत्मा के संयोग को अनादि मानता है । क्योंकि सृष्टि के लिए जीव को पुद्गल की तथा पुद्गल को जीव की आवश्यकता रहती है एवं दोनों में से कोई भी एक तत्त्व संपूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत् उत्पत्ति नहीं कर सकता । किन्तु इस दर्शन के अनुसार अज्ञान से उत्पन्न वासना, वासना से उत्पन्न कर्म के कारण चेतन जीव व जड़ अजीव परस्पर संयुक्त होते हैं जिसके फलस्वरूप दृश्य जगत् का अभ्युदय तथा विकास होता है । यहाँ पर यह स्पष्टीकरण नहीं प्राप्त हो रहा है कि अज्ञान क्या है? यदि जीव व अजीव का सम्बन्ध अनादि है जो अज्ञान के कारण संघटित हुआ है तो अज्ञान भी अनादि ही है । फिर जैन दर्शन में वर्णित बद्ध और मुक्त जीव की स्थिति कब और कैसे हुई? जीव कैसे बन्धन में आता है ? और कैसे मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करता है? - इस प्रश्न का समुचित उत्तर जैन दर्शन ने प्रस्तुत नहीं किया है ।

जैन दर्शन की मान्यता है कि जगत् का विकास नहीं हो सकता, वह परिपूर्ण है क्योंकि द्रव्य कम या अधिक नहीं हो सकते हैं । यह बात भी विज्ञान के आधार पर समीचीन है क्योंकि तापगतिकी नियम के अनुसार विश्व की कुल ऊर्जा सदा समान ही रहती है ।

पुनश्च जैन दर्शन के अनुसार सत् द्रव्य का नाश नहीं होता और न ही असत् द्रव्य से सृष्टि हो सकती है। उत्पत्ति और विनष्टि तो पदार्थों के गुणों और प्रकारों के कारण ही होती है। अन्य शब्दों में, पदार्थों या द्रव्यों के परिवर्तन का नाम ही सृष्टि है। वास्तवतः यह कथन पूर्णतया आधुनिक विज्ञान के मत से समानता रखता है।

उपसंहार :

उपर्युक्त आलोचना से यह स्पष्ट होता है कि अनेकान्तवादी जैनदर्शन सृष्टितत्त्व के विषय में जो तथ्य उपस्थापित करता है, निश्चित ही वैज्ञानिकों के मापदण्डों पर सफल प्रमाणित हो रहा है। पुद्गलों के बारे में, उनके मध्य आकर्षण शक्ति के आधार पर जगत् का सर्जन होना, संसार में द्रव्यों की अवस्थिति आदि विषय विज्ञान की दृष्टि से उल्लेखनीय है। अतः जैन तत्त्वदर्शन पदार्थ विवेचन व सृष्टि विषयक चिन्तन करने में अनन्य भूमिका का निर्वहन करता है।

पाद टीका :

[1]जीवाजीवास्रवबन्धसम्बरनिर्जरमोक्षास्तत्त्वानि। तत्त्व.सू. 1.4

[2]अनेकधर्मात्मकमेव तत्त्वम्। वही. 5.38

[3]उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। वही. 5.29

[4]गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। वही. 5.39

[5]द्र.सं. 24-25

[6]तत्त्व.सू. 2.32-36

[7]स्याद्. 29

[8]चैतन्यलक्षणो जीवः। षड्.स. का. 49

[9]प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्। तत्त्व.सू. 5.16

[10]वही. 5.24

[11]द्र.सं. का. 23

[12]वही. गाथा. 30

[13]तत्त्व.सू. 6.1-2

[14]वही. 8.1

[15]आस्रवनिरोधः संवरः। स.द.सं. पृष्ठ. 164

[16]अर्जितस्य कर्मणस्तपःप्रभृतिभिर्निर्जरणं निर्जराख्यं तत्त्वम्।
वही. पृष्ठ. 166

[17]बन्धहेत्वभावनिर्जरायाम्। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।
तत्त्व.सू. 10.5.3

[18]तथागति परिणामात्। वही. 10.8

[19]जीव-पुद्गलयोर्विविधसंयोगैः स विविधरूपः।
इयं विविधरूपता एव सृष्टिरिति कथ्यते॥ जै.सि.दी. 1.9

[20]द्रव्यं नोत्पद्यते किंचित् न विनश्यति किंचन।
केवलं परिवर्तोऽस्ति, सृष्टिरेषा तवोदिता॥ वही. 1.10

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, संपा. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्यालय शोध संस्थान, वाराणसी, 1973
2. षड्दर्शनसमुच्चय, हरिभद्र सूरि, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, वि.सं. 1982
3. स्याद्वादमञ्जरी, मल्लिषेण सूरि, संपा. प्रो. ध्रुव, बम्बई, 1983
4. द्रव्यसंग्रह, नेमिचन्द्र, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, वि.सं. 1976
5. जैनसिद्धान्तदीपिका, आचार्य तुलसी, आदर्श संघ, चुरू, राजस्थान, 1970, द्वितीय संस्करण
6. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, संपा. जगरूपसहाय, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, वि.सं. 1985
7. सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, संपा. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964
8. भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा, राममूर्ति शर्मा, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2008
9. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 2001, पुनर्मुद्रण
10. भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनरसीदास, दिल्ली, 2004, पुनर्मुद्रण
11. भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप, एस.के. सक्सेना, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1969, प्रथम संस्करण